

भारत की सांस्कृतिक विशिष्टता

डॉ० संगीता शुक्ला,

एसोसिएट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, नवयुग कन्या महाविद्यालय,
लखनऊ विश्वविद्यालय से सहयुक्त, लखनऊ

भारत देश विविध विषयों से संबंधित साहित्य और परंपराओं से विभूषित रहा है। हमारी विरासतें और परम्पराएं वर्तमान और अतीत के बीच सेतु हैं। सम्पूर्ण विश्व में भारत जैसा कोई देश भी नहीं है जिसने इतने बड़े सुदूर अतीत को सुरक्षित रखा है। रोमन इतिहासकार पोलिबियस ने विश्व साम्राज्य की कल्पना की थी किन्तु पोलिबियस का समय द्वितीय शताब्दी ई०पू० है और उसने अपने हिस्ट्रीस नामक ग्रन्थ में 264 ई०पू० और 146 ई०पू० के मध्य प्राचीन रोमन साम्राज्य के उन संघर्षों का वर्णन किया है जिनसे रोम एक प्रमुख विश्व शक्ति बन गया था।¹ किन्तु पोलिबियस से बहुत समय पूर्व ही भारतीय वेदों में विश्व-बंधुत्व की परिकल्पना कर ली गयी थी।

भारत ने सदियों तक आक्रमणों का प्रतिरोध किया तथापि वह कभी आक्रांता नहीं बना।² अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिवेश में राष्ट्र की अखंडता के संरक्षण में मानवमात्र को अभयदान देना हमारी सांस्कृतिक गरिमा है। भारत में इस अभयदान व्रत का बड़ी निष्ठा और आस्था से पालन होता आया है।³ यद्यपि ऐसे कई आक्रांता आये जिन्होंने येन केन प्रकारेण एक ही बार विजय हासिल होने पर भारतीय सम्पदा और संस्कृति पर गंभीर आघात किया और दुर्भाग्यवश भारत गुलामी की बेड़ियों में जकड़ गया।

इतिहास-अवधारणा विभिन्न युगों में काल तथा परिस्थितियों का परिणाम रही है। लोएंस डिकिंसन ने स्पष्ट लिखा है कि हिन्दू इतिहासकार नहीं थे। भारतीय घटनाओं के तथ्यपरक विवरण में रूचि नहीं रखते थे।

भारतवासियों में दार्शनिक दृष्टिकोण का अभाव था और घटनाओं के प्रस्तुतिकरण में उन्हें तिथिक्रम का ज्ञान नहीं था।² आज जो हम स्वच्छंदता से स्वतंत्रता का आनन्द ले रहे हैं। वह हमारी पीढ़ियों के शताधिक वर्षों तक आत्मोत्सर्ग का परिणाम है। फिर भी अधिकांश हीन भाव से ग्रसित हो पश्चिमी सभ्यता को श्रेष्ठ समझकर भारतीय संस्कृति की ओर से उदासीन हैं। यह मैक्समूलर-समूह द्वारा परोसी गयी शिक्षा व्यवस्था का परिणाम है।

यहां प्रारंभ में धार्मिक साहित्य प्रमुख रहा। जिसमें वैदिक साहित्य, बौद्ध और जैन साहित्य प्रमुख हैं। इसमें आध्यात्मिक ग्रंथ भी हैं और शास्त्रीय विवाद-ग्रंथ भी लिखे गए हैं। यह सामग्री इतनी प्रभूत और बहुमूल्य है कि संसार में जो भी मनुष्य धर्म के क्षेत्र में गवेषणा के लिए कृत संकल्प होगा, उसे इसका अध्ययन करना ही पड़ेगा। इस विशाल साहित्य और परंपरा की धारा हजारों वर्ष से अबाध रूप से बहती आ रही है। यह तो एक धारा की चर्चा हुई, अन्य भी अनेक धाराएं हैं। भारत में प्राचीनतम काल से वीर गीतों की परंपरा भी चली आ रही है। इतिहास में एक ऐसा समय आया कि ऐसी सैकड़ों परंपराएं दो राष्ट्रीय महान महाकाव्यों में एकत्र होकर मूर्त हो गईं। इन महाकाव्यों को हम महाभारत और रामायण के नाम से जानते हैं। इनमें इतनी मौलिकता है कि पाश्चात्य देशों के सुंदरतम साहित्य से इसकी तुलना की जा सकती है।³

सूक्तियों और सुभाषितों के क्षेत्र में तो भारतीय साहित्यकार उस ऊंचाई पर पहुंचे। जिस

पर आज तक विश्व का कोई भी देश नहीं पहुंचा। भारत की अदभुत कथाओं, जन्तु कथाओं और गद्य आख्यायिकाओं का विश्व साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है।⁴ भारतीय जन्तु कथाओं के ग्रंथ पंचतंत्र पर गंभीर गवेषणा पूर्ण कार्य किया गया है और इससे अदभुत कथाओं की गवेषणा की एक स्वतंत्र शाखा का विकास हो गया है। दूरदर्शन और विभिन्न आभासी माध्यमों से इनके मूल विस्तार तथा एक देश से दूसरे देश में संक्रांति आदि विषयों पर विचार किया जा सकता है। ईसा के जन्म से शताब्दियों पूर्व भारत में व्याकरण का गंभीर अध्ययन प्रारंभ हो चुका था। भारत में प्राचीन काल से गद्य और पद्य को निश्चित रूप से लिखने की एक विशिष्ट पद्धति चली आ रही है। दर्शन ग्रंथों और विधि ग्रन्थों में भी यह पद्धति मिलती है। यहां तक कि चिकित्सा गणित, ज्योतिष तथा वास्तुकला आदि से संबंधित ग्रंथ भी पद्य निबद्ध हैं। भारतीयों ने व्याकरण और शब्दकोशों की रचना भी पद्य में ही की है। इससे अधिक क्या हो सकता है कि 22 सर्गों का एक काव्य व्याकरण के नियमों तथा उदाहरणों को समझाने के लिए लिखा गया है, जिसे हम भट्टिक काव्य के नाम से जानते हैं। व्याकरण के क्षेत्र में भारतीय प्राचीन काल के सब राष्ट्रों से कहीं आगे थे। शब्दकोष विज्ञान भी अत्यंत उच्च स्तर का था। इसी को आधार बनाकर परवर्ती काल के भारत के कवि छंद शास्त्र और साहित्य शास्त्र में वर्णित वैज्ञानिक नियमों के आधार पर पद रचना करते थे। अत्यंत प्राचीन काल से ही भारतीयों की यह एक विशेष प्रवृत्ति रही है कि कोई भी विषय हो उसका पांडित्य पूर्ण वैज्ञानिक विश्लेषण और वर्गीकरण किया जाना चाहिए। इसलिए हमें भारत में ऐसा प्रभूत साहित्य मिलता है, जिसमें केवल राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, औषध विज्ञान, फलित ज्योतिष तथा गणित ज्योतिष, अंकगणित तथा ज्यामिति ही नहीं संगीत, गान, नृत्य, नाटक, जादू तथा भविष्य –कथन, यहां तक कि काम शास्त्र भी, सबको वैज्ञानिक प्रणालियों के रूप में

व्यवस्थित किया गया है। सब के लिए पृथक-पृथक शिक्षण ग्रंथ भी लिखे गए हैं। शताब्दियों तक प्रत्येक शाखा के ग्रंथों पर टिकाएं भी लिखी गई हैं। धर्म ग्रन्थ तो क्या कविता तथा विज्ञान प्रत्येक क्षेत्र के ग्रंथों पर अनेकों टीकाएं हैं। यहां तक कि व्याकरण, दर्शन और विधि –शास्त्र के अधिकांश महत्वपूर्ण तथा विस्तृत ग्रंथ टीकाओं के रूप में ही हैं। ऐसे भी उदाहरण मिले हैं कि टीकाओं पर टिकाएं और कभी-कभी तो ग्रन्थकार द्वारा अपनी लिखी कृति पर ही टीका लिखने की परंपरा भी भारत में प्रचलित रही है।⁵

वस्तुतः भारतीय संस्कृति के संवाहक हमारे पूर्वज बड़े ही कर्मठ और परिश्रमी रहे हैं और अपने कार्य को दत्तचित्त होकर करते थे। जिसकी परिणति से तत्कालीन योद्धा तथा व्यापारी, कृषक तथा पशुपालक, कारीगर तथा श्रमिक गीतों और कहानियों का विकास हुआ। उस प्रारम्भिक काल में भारत में जो गीत गाये जाते थे या कहानियाँ कही जाती थीं, उसका अत्यल्प भाग वेदों में उपलब्ध है (उदाहरण के लिए शुनःशेष आख्यान) परन्तु अधिकांश भाग परवर्ती वीरकाव्यों (महाभारत आदि) तथा पुराणों में सुरक्षित है।⁶

आध्यात्मिक विचारकों द्वारा चार आश्रमों के सिद्धान्त प्रवर्तन के अनुसार तपस्वी तथा वानप्रस्थ के जीवन को ब्राह्मणीय धर्म-प्रणाली का अभिन्न अंग बना लिया गया। वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक 'आर्य' अर्थात् 'द्विज' (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य), जो आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहता है, उसके लिए यह अनिवार्य है कि वह चारों आश्रमों में से गुजरे। हर परिवार, समाज, वर्ग एवं राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोने के लिये एक आदर्श आचार संहिता होती है। यह आचार संहिता ही संस्कृति है। संस्कृति उस माला के धागे के समान है जो विभिन्न प्रकार के फूलों को संजोये रखता है। जिस प्रकार धागे के टूट जाने पर सभी सुन्दर फूल बिखर कर मलिन हो जाते हैं। उसी प्रकार

संस्कृति के नष्ट होने से वह समाज भी नष्ट हो जाता है। उस समाज की गुणवत्ता को संस्कृति ही सतत सुधारती है और उस सभ्यता के प्रत्येक व्यक्ति को एकता के डोर में बांधे रखती है। संस्कृति का परिमार्जन संस्कारों के द्वारा किया जाता रहता है।⁷

हिन्दू-धर्म अथवा किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण अंग 'संस्कार' है। संस्कारों के अंगभूत विधि-विधान, कर्मकाण्ड, आचार, प्रथायें आदि प्रायः सार्वभौम हैं और संसार के विविध देशों में पायी जाती हैं। प्राचीन संस्कृतियों में इनका प्रतिष्ठित स्थान है और आधुनिक धर्मों में भी उनका पर्याप्त प्रतिनिधित्व है। अतः संस्कारों के ऐतिहासिक विकास को ठीक-ठीक समझने के लिये हिन्दू संस्कारों का अन्य धर्मों में प्रचलित संस्कारों तथा विधि विधान के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है।⁸ आधुनिक उपयोगितावादी दृष्टिकोण से देखने पर संस्कारों के कई अंग असंगत तथा असहनीय जान पड़ेगे। किन्तु जिन्हें प्राचीन जीवन और संस्कृति के सामान्य सिद्धान्तों को समझने की क्षमता, धैर्य और रूचि है, उन्हें ऐसा नहीं लगेगा। उनको प्रतीत होगा कि मानव ज्ञान भण्डार को समृद्ध बनाने के लिये उनका परिचय आवश्यक है। संस्कार सम्बन्धी विश्वास तथा प्रथायें अन्धविश्वास मूलक जादू टोना तथा पौरोहित्य कला पर अवलम्बित नहीं हैं, वे पर्याप्त मात्रा में परस्पर सुसंगत तथा युक्ति युक्त हैं, यद्यपि उनका उदय आज से भिन्न मनोवैज्ञानिक वातावरण में हुआ था।⁹

समाज विज्ञान की दृष्टि से भी संस्कार बड़े महत्व के हैं। प्रत्येक समाज अपने मूल्यों और धारणाओं को सजीव और सुरक्षित रखने के लिये उनके प्रति निष्ठा और विश्वास उत्पन्न करता है। इसके लिये सामाजिक तथा धार्मिक प्रेरणा और अनुशासन की आवश्यकता है। संस्कार इस प्रकार की प्रेरणा और अनुशासन के सफल माध्यम हैं।

केवल विधि और संविधान पर अवलम्बित रहने वाली कोई भी सामाजिक व्यवस्था तब तक स्थायी नहीं हो सकती, जब तक उसकी जड़ सामाजिक मन में दूर तक नहीं पहुंचती। विधि और संविधान को समझने और उनका आदर करने के लिये भी समाज के सदस्यों का मन संस्कृत होना चाहिये। किसी भी सामाजिक विनय अथवा व्यवस्था के पीछे शक्तियों और सहस्राब्दियों का संस्कार काम करता है। वैसे तो सामाजिकता मनुष्य में सहज है और सर्वत्र पायी जाती है, किन्तु देश अथवा जाति विशेष के अपने मूल्यों और प्रतिमानों के प्रति आस्था और विश्वास उत्पन्न करने के लिये प्रयत्न पूर्वक संस्कार करना पड़ता है। तभी सामाजिक नीति और मूल्यों का विकास होता है। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था की दृढ़ता के पीछे उनके जीवन का नियमित और अनिवार्य संस्कार था।

संस्कार दो प्रकार से समाज को प्रभावित करते आये हैं 1. सिद्धान्तीकरण तथा 2. अभ्यास। प्रथम से, धीरे-धीरे विचारों तथा विश्वासों का स्वरूप स्थिर होता है। सिद्धान्तीकरण तो शिक्षा, उपदेश तथा विचारों के संक्रमण और आरोप के द्वारा सीधे होता है। लेकिन अभ्यास धीरे-धीरे अचेतन रूप से पड़ जाता है। नियामक विधियों से यह प्रभाव अधिक शक्तिमान होता है 'उचित' और 'कर्तव्य' की धारणा मनुष्य को अपने पथ से विचलित नहीं होने देती। इसकी चेतावनी संस्कार जीवन के सभी मोड़ों पर देते हैं। यह प्रक्रिया शैशव काल से ही प्रारम्भ होती है। माता-पिता, सम्बन्धी, साथी, शिक्षक, अध्यापक, गुरु सभी बालक के मन को संस्कृत करते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से संस्कार तथा अन्य विधि-विधान सामाजिक व्यवस्था का पोषण और धारण कराते हैं। यदि ये न होते तो मानव का सामाजिकरण कभी पूरा नहीं हुआ होता और न परिवार और विवाह जैसी सामाजिक संस्थाओं का विकास ही होता।¹⁰

संस्कारों में कई एक विधियाँ संगीत में लय और ध्वनि के समान प्रवाहित होती हैं और

जीवन के विभिन्न अवसरों (जन्म और मृत्यु के बीच) पर उनकी पुनरावृत्ति एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिये की जाती है। यह पुनरावृत्ति व्यक्ति की भावना को उद्बुद्ध करती है और उसके तथा अवसर के बीच में इस प्रकार का रहस्यमय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। विधियों का क्रम ऋत, सत्य और अनिवार्यता का प्रतीक है। इसका अतिक्रमण समाज में क्रमशः अव्यवस्था और असंतोष का कारक बनता है। संस्कार व्यक्ति और समाज के बीच एक बलिष्ठ कड़ी का निर्माण करते हैं जो दोनों के स्थायी सम्बन्ध को बनाये रहती है।

संस्कार जीवन के विभिन्न अवसरों को महत्व और पवित्रता प्रदान करते हैं। वे इस बात पर भी जोर देते हैं कि जीवन के विकास का प्रत्येक चरण का महत्व है, जिनके प्रति व्यक्ति को जागरूक रहना चाहिये। अतिपरिचय के कारण जीवन की घटनाओं की तरफ प्रायः उदासीनता और असावधानी उत्पन्न हो जाती है और कुछ व्यक्तियों में उनके प्रति अवज्ञा भी। संस्कार इस सामाजिक तन्द्रा और अवज्ञा का निराकरण करते हैं और जीवन के विकास के क्रमों के महत्व का स्पष्टीकरण सामूहिक तथा सामाजिक स्तर पर करते हैं। संस्कारों के अभाव में जीवन की घटनायें, शरीर की दैनिक आवश्यकताओं और धार्मिक व्यापार के समान अनाकर्षक, चमत्कारहीन और जीवन के भावुक संगीत से रहित हो जाती हैं।

यह सच है कि संस्कार सम्बन्धी क्रिया कलाओं का प्रभाव आलोचक बुद्धिवादी की अपेक्षा सामान्य जन साधारण पर अधिक पड़ता है और बुद्धिवादी युग में उनके महत्व के कम हो जाने की संभावना होती है। कभी कभी संस्कारों का बाह्य आडम्बर उनके उद्देश्यों और प्रयोजनों को इतना ढक लेता है कि आलोचक सम्पूर्ण धार्मिक विधि-विधानों को मिथ्याचार समझने लगता है, किन्तु सामाजिक विनय, शक्ति और स्वतन्त्रता

सभी का स्रोत इन्हीं में है। जीवन के विकास के विभिन्न अवसरों पर कोई न कोई समस्या खड़ी रहती है, जिनका समाधान व्यक्ति के लिये कठिन होता है। संस्कारों में शक्तियों और सहस्राब्दियों का जातीय अनुभव निहित होने के कारण वे समस्याओं का समाधान पहले से प्रस्तुत रखते हैं। व्यक्ति को असमंजस और ऊहापोह में न पड़कर सांस्कारिक समाधानों का तुरन्त सहारा मिल जाता है। संस्कारों की प्रतीकात्मकता उनमें अपूर्व शक्ति उत्पन्न करती है जो किसी भी उपयोगितावादी विधि विधानों में संभव नहीं है। इसलिये प्रत्येक समाज पुराने प्रतीकों का उपयोग करता है और आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार नये प्रतीकों का निर्माण करता है।

अधुना मानव व्यवहार के लिये मोबाइल तथा स्मार्टवॉच आदि विभिन्न कृत्रिम (आर्टिफिशियल इन्टेलिजेन्स) माध्यम प्रयोग किये जाने लगे हैं। विशेषकर जनरेशन जेड के लोग इन पर इतने निर्भर हो रहे हैं कि अपनी स्वाभाविक गणक क्षमता और दिशा ज्ञान संबंधी प्राकृतिक संसाधनों से अनभिज्ञ होते जा रहे हैं। उनके लिए अब वेद-उपनिषद तो क्या? पारंपरिक पद्धति से (सूर्य, चन्द्रमा और तारों के आधार पर) दिशाओं का ज्ञान, दिन, पक्ष, मास, संवत्सर का ज्ञान भी अब रहस्यमयी एवं अनुपयोगी बनता जा रहा है। इतना ही नहीं स्वार्थपरता के कारण निजी स्वतंत्रता का दावा कर सामाजिक सरोकार से विमुख होकर आत्मकेन्द्रित होता व्यक्ति इस यथार्थ को नकार रहा है कि मूलतः मानव एक सामाजिक पशु ही है। उसे संस्कारित करके दायित्ववहन करने हेतु सुप्रशिक्षित करके समाज का आधार स्तम्भ बनाया जाता है।

यदि प्राचीन युग का भौतिक विज्ञान आज की तुलना में प्रारम्भिक प्रतीत होता है तो यह स्मरणीय है कि उस युग में भौतिक सत्ता के परमार्थिक चैतन्य स्वरूप की खोज करके ऋषियों ने पराभौतिकी को प्रकाशित किया। जो वर्तमान

युग के लिए स्पृहणीय है क्योंकि मानव-कल्याण के लिए उस पर आधारित धर्म-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान सदा ही आवश्यक रहेंगे।

निजी धार्मिक, नैतिक और कौटुम्बिक जीवन चक्र के अतिरिक्त सांस्कारिक अनुष्ठान आर्थिक और राजनीतिक जीवन में भी महत्व रखते हैं। वैदिक आर्थिक दृष्टि सहज समवाय की थी। वह अमर्यादित भोग निष्ठा की, प्रतिस्पर्धात्मक संघर्ष की, कृत्रिमता की दृष्टि नहीं है। उसमें उत्पादन और भोग, आदान और प्रदान के एक सहज चक्र की कल्पना है, जिसका प्रतीक यज्ञ अथवा वसुधारा है। मानव जीवन देवशक्ति के अधीन है, उसी से प्राप्त साधन से मनुष्य कर्म करता है। उसे त्यागपूर्वक ही कर्म और भोग में प्रवृत्त होना चाहिए। इस प्रकार की त्यागपूर्वक कर्मठता ही समस्त प्राणियों को सहज समवाय में जोड़ती है। देव भक्तिपूर्वक त्यागप्रवणता ही आदर्श कर्म का रहस्य है।

पूर्ववैदिक आध्यात्मिकता का आधार न मात्र कर्मानुष्ठान है, न पूरी कल्पना, उसका आधार देवोपासनामूलक स्वानुभूति है। जो कि अपरोक्षानुभूति का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है¹¹ क्योंकि उन देवताओं के विषय में यही वैदिक निर्णय अन्तिम है कि 'एकं सद्द्विप्राः बहुधा वदन्ति'।

विलियम जोन्स ऐसा पहला विद्वान है जिसने यह प्रख्यापित किया कि संस्कृत का लैटिन ग्रीक से पारिवारिक संबंध है।¹² भाषा, मन और संस्कृति की दृष्टि से जर्मन और अन्य यूरोपीय देश एक ही परिवार के हैं जिसे हम भारत-यूरोपीय परिवार कहते हैं। भारत-यूरोपीय भाषा की मूल भाषा एक ही थी। जर्मन भाषा तथा अन्य यूरोपीय भाषाएं संस्कृत भाषा की भगिनी (बहन) मानी जाती हैं। यदि केवल यूरोपीय साहित्य पढ़ते हैं, तो भाषा का ज्ञान एकांगी रहेगा। समग्रता के लिये भारतीय भाषाओं का अध्ययन करना पड़ेगा। भारतीय साहित्य इन साहित्यों का पूरक है। जर्मन विद्वान काण्ट ने

जिस सत्ता को 'स्व-रूप वस्तु' कहा, उपनिषद के ऋषियों ने उसे 'एक' (अद्वैत) या सत्, ब्रह्मन् या आत्मन् कहा।

उपनिषदों के दार्शनिकों का सारा विचार दो धारणाओं को केन्द्र बना कर आवर्तित होता है— ब्रह्मन् तथा आत्मन्। "ब्रह्म वह शक्ति है जो कि संसार की प्रत्येक वस्तु के रूप में परिणत हुई है। यह शक्ति संसार का सर्जन, धारण और रक्षण करती है और यही शक्ति सब लोकों का अपने अन्दर प्रत्याहार भी कर लेती है।" यह शाश्वत अनन्त दिव्य शक्ति आत्मा से अभिन्न (अद्वैत रूप) है। सब बाह्य वस्तुओं का निराकरण करके हम अपने वास्तविक स्वरूप का, अपने वास्तविक व्यक्तित्व का, आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं। उपनिषदों के 'तत् त्वम् असि' (वह तू है) में यह सिद्धान्त अत्यन्त निष्चित व स्पष्ट रूप में कथित है। उपनिषदों का आत्म-सिद्धान्त स्वयमेव हमें विश्व-प्रेम की ओर प्रेरित करता है। वस्तुतः हम प्रत्येक प्राणी में उस विश्वव्यापी आत्मा से ही प्रेम करते हैं।¹³ सृष्टि में कुछ भी अयोग्य, अनावश्यक एवं त्याज्य नहीं है।

"न अक्षरं मंत्र रहितम् न मूलं न औषधम्।

अयोग्यः पुरुषः नास्तियोजकातस्य दुर्लभः"

एकता का सिद्धान्त (एकात्म्य का सिद्धान्त) अर्थात् यह सिद्धान्त कि "जो नानात्व दिखाई देता है वह अवास्तविक है। विश्व में जो यह अनन्त विविधता दिखाई देती है, प्रथक-प्रथक वस्तुएँ दिखाई देती हैं, जिन्हें हम एक-एक करके प्रथक रूप से देखते हैं, उन सबमें एक ही सच्ची वास्तविक 'सत्ता' एकात्म रूप से विद्यमान है और यह सब कुछ उसी की अभिव्यक्ति है।" "इस विश्व में जो कुछ भी होता है, उसकी एकमात्र यह ही व्याख्या है अर्थात् सम्पूर्ण विश्व एकात्ममय है", यदि यह कथन ठीक है तो 'आज का यह दर्शन' आज का नहीं है—तीन हजार वर्ष पूर्व प्राचीन भारतीय इस दर्शन की स्थापना कर चुके थे।

अपनी मूर्त तथा अमूर्त विरासतों को पहचानना, संवर्धन करना और उन पर गर्व करना जब तक हम नहीं सीखते तब तक हमारी स्वतंत्रता अधूरी ही रहेगी।

वैश्वीकरण में विकास तथा अपनी निजता को बनाये रखना विकासशील देशों के लिए ही नहीं विकसित देशों के लिये भी चुनौती सिद्ध हो रहा है। मानव मन-मस्तिष्क की विकृति सदियों से संवर्धित मानव समाजों को विनाश की कगार पर लाकर खड़ा कर चुकी है। विश्वस्तर पर एक ही वर्ष में दो बार-विश्व धरोहर सप्ताह (19 से 25 नवम्बर तक) तथा धरोहर दिवस-स्मारक एवं भवन (18 अप्रैल) मनाने का निवेदन विश्व की विभिन्न संस्थाओं द्वारा विशेषकर यूनेस्को द्वारा किया जा रहा है, उसका अभिप्राय यही है कि हम अपनी मूर्त ही नहीं अमूर्त विरासत के महत्व को भी समझें उसका संरक्षण और संवर्धन करें।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. चौबे झारखण्डे, इतिहास –दर्शन, पृ0 59
2. वही, पृ0 52
3. विण्टरनिटज एम0, प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली वाराणसी पटना बंगलौर मद्रास, 1975, पृ-29-33
4. विण्टरनिटज एम0, वही, पृ0-2
5. काणे, डॉ0 पाण्डुरंग वामन, धर्मशास्त्र का इतिहास, उ0प्र0 हिन्दी संस्थान, पृ0. 3-47
6. Bhattacharyya, Haridas, The Cultural Heritage of India, Vol-IV, The Ramakrishna Mission Institute of Culture Calcutta, 1975, पृ0.31-63
7. चौबे, वही, पृ0.76
8. काणे, डॉ0 पाण्डुरंग वामन, खण्ड-2, पृ0 176-312
9. पाण्डेय, राजबलि, हिन्दू संस्कार, वाराणसी, पृ 7-12
10. सिंह विद्याबिन्दु, एक बँसुरी, एक बाँस, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, पृ0-1-15
11. देवी, जानकी, अपरोक्षानुभूति और शंकराचार्य, नाग प्रकाशक दिल्ली, 2003, पृ0 133-146
12. विण्टरनिटज एम0, वही, पृ0-9
13. गोयन्दका, हरिकृष्णदास, ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ0-473-474; शुक्ला, संगीता, लोक संरक्षक दिक्पाल, मनसा पब्लिकेशन लखनऊ, पृ0 17-35